दैनिक भास्कर

Date: 06-06-26

फैसलों को बहुत समय तक रिजर्व रखना न्यायसंगत नहीं

संपादकीय

सीजेआई की बेंच ने एक बाध्यकारी आदेश में सभी हाईकोर्ट्स को आरक्षित फैसलों को अधिकतम तीन माह में डिलीवर करने को कहा है। लेकिन उसी दिन उसी कोर्ट में एक फैसला 15 महीनों तक रिजर्व रखने के बाद सुनाया गया। यह फैसला 42 साल पुराने एक दोहरे हत्याकांड को लेकर था, जिसमें सेशंस कोर्ट ने सजा दी थी और एक अभियुक्त की अपील हाईकोर्ट ने वर्ष 2013 में खारिज कर दी थी। दूसरे अभियुक्त ने सुप्रीम कोर्ट में उसी साल अपील की थी। तब से मामला सुप्रीम कोर्ट में सुनवाई के लिए लम्बित था। इस केस के अलावा भी अनेक मामलों में सुप्रीम कोर्ट की बेंचें फैसला सुरक्षित कर लेती हैं, लेकिन उन्हें डिलीवर करने में असाधारण विलम्ब से दोनों वादी और प्रतिवादी या अभियुक्त या अभियोजक संस्था अधर में रहती हैं। हाल के प्रमुख मामलों में जैसे नाज फाउंडेशन के समलैंगिकता के मामले में 20 माह सबरीमला केस में नौ माह और अनुच्छेद 370 की वैधानिकता के मामले में तीन माह तक फैसले रिजर्व रखे गए थे। ऐसा नहीं है कि सुप्रीम कोर्ट ने पहली बार हाईकोर्ट्स को ऐसा कहा हो। अनिल राव बनाम बिहार मामले में वर्ष 2001 में भी कोर्ट ने तीन माह से ज्यादा फैसले रिजर्व न रखने का दिशानिर्देश दिया था। लेकिन अगर सुप्रीम कोर्ट स्वयं इसका पालन न करे तो निचली अदालतों से अपेक्षा करना कितना न्यायसंगत होगा ?

दैनिक जागरण

Date: 06-06-26

जनसांख्यिकी परिवर्तन की चुनौती

प्रकाश सिंह, (लेखक उत्तर प्रदेश पुलिस एवं बीएसएफ के महानिदेशक रहे हैं)

देश में जनसांख्यिकी परिवर्तन के कारण एवं उससे होने वाले प्रभाव के अध्ययन हेतु भारत सरकार ने एक उच्च स्तरीय कमेटी का गठन किया है। कमेटी घुसपैठ एवं कुछ सामाजिक एवं धार्मिक समुदायों की जनसंख्या में असाधारण परिवर्तन के परीक्षण पश्चात प्रशासनिक एवं कानूनी ढांचे तथा नीतियों में परिवर्तन हेतु आवश्यक संस्तृति करेगी। सुप्रीम कोर्ट के सेवानिवृत्त जज प्रकाश प्रभाकर नवलेकर की अध्यक्षता वाली कमेटी के गठन की घोषणा करते हुए गृह मंत्री अमित शाह ने कहा कि घुसपैठ एवं अन्य कारणों से होने वाले जनसांख्यिकी परिवर्तन से देश की शांति व्यवस्था और राष्ट्रीय सुरक्षा को बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया है। गृह मंत्रालय की अधिसूचना के अनुसार देश के कुछ हिस्सों में ऐसे जनसांख्यिकी परिवर्तन हुए हैं, जो सामान्य नहीं हैं। ये अवैध घुसपैठ, अनियमित आवागमन और प्रशासनिक ढिलाई के कारण हुए हैं। यह परिवर्तन विशेष तौर से सीमावर्ती इलाकों, औद्योगिक केंद्रों और सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्रों में हुए हैं।

प्रधानमंत्री ने पिछले वर्ष 15 अगस्त को लाल किले की प्राचीर से जनसांख्यिकी परिवर्तन पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा था, 'एक साजिश के तहत जनसंख्या को बदला जा रहा है। घुसपैठिये देश के युवाओं की रोजी-रोटी छीन रहे हैं, बहनों और बेटियों को निशाना बना रहे हैं, भोले भाले आदिवासियों को गुमराह कर उनकी जमीन पर कब्जा कर रहे हैं। यह बर्दाश्त नहीं किया जाएगा।' प्रधानमंत्री की इस घोषणा पर कार्रवाई हेतु ही उपरोक्त कमेटी का गठन किया गया है।

भारत में घुसपैठ की कहानी बड़ी लंबी है। 1971 में जब पूर्वी पाकिस्तान बांग्लादेश बन गया तो ऐसी आशा थी कि सांप्रदायिक सौहार्द होगा और बांग्लादेश सरकार आर्थिक क्षेत्र में ऐसे कदम उठाएगी कि किसी को अपना देश छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए कहीं और न जाना पड़े, परंतु दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। आर्थिक कारणों से भारी संख्या में लोग में घुसपैठ करते रहे और अनुमान है कि इनमें से 70 प्रतिशत मुसलमान थे। हिंदू मुख्य रूप से वहां प्रताड़ित होने के कारण भारत पलायन कर रहे थे। बांग्लादेश चुनाव आयोग के अभिलेखों को देखने से कुछ दिलचस्प आंकड़े सामने आते हैं। 1991 में बांग्लादेश में कुल 6,21,81,745 वोटर थे, परंतु इस सूची से 1995 में 61,65,567 लोगों के नाम काटने पड़े, क्योंकि उनका कहीं अता-पता नहीं था। 1996 में फिर 1,20,000 व्यक्तियों के नाम मतदाता सूची से हटाने पड़े, क्योंकि उनका भी कुछ पता नहीं चला। इतनी बड़ी संख्या में लोग हवा में नहीं गायब हो रहे थे। ये सब धीरे-धीरे भारत में घुसपैठ कर रहे थे। बांग्लादेश का बुद्धिजीवी वर्ग इस घुसपैठ का बराबर समर्थन कर रहा था।

असम के राज्यपाल रहते लेफ्टिनेंट जनरल एसके सिन्हा ने आठ नवंबर, 1998 को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति को एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने चेतावनी दी थी कि असम में जिस तरह घुसपैठ हो रही है, उसे देखते हुए हो सकता है कि असम के सीमावर्ती मुस्लिम बहुल क्षेत्र को बांग्लादेश में मिला दिया जाए। बांग्लादेश में कुछ लोग 'ग्रेटर बांग्लादेश' की बात भी करने लगे थे।

कारगिल युद्ध के बाद भारत सरकार ने चार टास्क फोर्स का गठन किया था। उनमें से एक माधव गोडबोले के नेतृत्व में सीमावर्ती क्षेत्रों की समस्याओं का गहन अध्ययन करने के लिए बनाई गई थी। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट 2000 में प्रस्तुत की। उसमें स्पष्ट लिखा है कि घुसपैठियों की संख्या एक करोड़ 50 लाख है। टास्क फोर्स के अनुसार तब प्रतिवर्ष करीब तीन लाख बांग्लादेशी नागरिक भारत में घुसपैठ कर रहे थे। टास्क फोर्स ने सभी दलों को इस समस्या से निपटने में उदासीन बताते हुए लिखा कि इतनी बड़ी संख्या में घुसपैठियों का होना देश की सुरक्षा, सामाजिक सौहार्द और आर्थिक प्रगति के लिए खतरा है। सुप्रीम कोर्ट ने भी 2005 में इस समस्या का संज्ञान लेते हुए इसे 'जनसांख्यिकी आक्रमण' कहा। इस तरह समय-समय पर चेतावनी मिलती रही, पर सरकारों के कान में जूं नहीं रेंगी और समय बीतने के साथ समस्या और गंभीर होती गई।

आज शायद ही कोई ऐसा प्रदेश होगा जहां बांग्लादेशी कुछ न कुछ संख्या में न हों। बंगाल और असम में तो इनकी बाढ़ है। 1951 में बंगाल में मुस्लिम जनसंख्या 51,18,269 थी, 2011 में यह संख्या बढ़कर 2,46,54,825 हो गई। यानी 381.7 प्रतिशत की वृद्धि। असम में 1951 में मुस्लिम जनसंख्या 19,95,936 थी, 2011 में यह उछलकर1,06,79,345 हो गई। यानी 435.1 प्रतिशत की वृद्धि। आंकड़ों के अनुसार 1971 के बाद से हर दशक में मुस्लिम आबादी 80 से 85 प्रतिशत बढ़ी है। म्यांमार से भारी संख्या में रोहिंग्या भी घुसपैठ कर चुके हैं। ऐसे में उच्च स्तरीय समिति का गठन सही दिशा में एक कदम है, लेकिन कमेटी की रिपोर्ट आने तक घुसपैठियों के विरुद्ध कार्रवाई को रोक नहीं जा सकता। भारत सरकार को तुरंत सभी राज्य सरकारों को निर्देश देना चाहिए कि वे घुसपैठियों की पहचान कर उन्हें अग्रिम कार्रवाई तक होल्डिंग सेंटर्स में रखें। डिटेक्ट, डिटेन और डिपोर्ट एकदम सही नीति है। इस कार्रवाई से भी मुश्किल से 20-25 प्रतिशत बांग्लादेशियों की ही पहचान हो पाएगी। शेष के लिए भारत सरकार घोषणा करे कि घुसपैठिये स्वेच्छा से सामने आएं। उन्हें दो साल का पहचान पत्र/वर्क परमिट दिया जाए। इस आश्वासन के साथ कि वे भारत में रोजी-रोटी कमा सकते हैं, परंतु उन्हें वोट देने का कोई अधिकार नहीं होगा और वे कोई अचल संपत्ति नहीं खरीद सकते। दो साल बाद वर्क परमिट को बढ़ाने/समाप्त करने पर इस आधार पर विचार किया जाए कि उनका आचरण कैसा रहा।

मोदी सरकार ने कश्मीर से अनुच्छेद-370 हटाने और माओवाद की समस्या को समाप्त करने में जो प्रतिबद्धता दिखाई, वह घुसपैठ की समस्या से निपटने में भी दिखानी होगी। अगर ऐसा होता है तो जिस आर्थिक, सामाजिक, और राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे की ओर समय-समय पर हमें आगाह किया गया था, उसका बहुत हद तक निराकरण हो सकेगा।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 06-06-26

राष्ट्रों की विदेश नीति पर हावी होती सौदेबाजी

श्याम सरन, (लेखक पूर्व विदेश सचिव हैं)

वर्तमान समय में अंतरराष्ट्रीय मामलों के विशेषज्ञ राष्ट्रों की विदेश नीति से जुड़े व्यवहार को सौदेबाजी की तरह देखते हैं। यह सौदेबाजी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अस्तित्व में आई नियम आधारित अंतरराष्ट्रीय वैश्विक व्यवस्था की साख में

सेंध लगने का सबूत माना जा रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तैयार अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में भी तमाम खामियां और असमानताएं थीं मगर इनके बावजूद इसका एक अपना रसूख हुआ करता था। यह व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र जैसे सशक्त अंतरराष्ट्रीय संस्थानों के साथ-साथ उन मुद्दों से निपटने के लिए बहुपक्षीय प्रक्रियाओं में भागीदारी पर आधारित थी जिनके दुनिया के लिए दूरगामी परिणाम हो सकते थे।

17वीं शताब्दी से चरणों में विकसित अंतरराष्ट्रीय कानूनों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। राष्ट्रों के बीच द्विपक्षीय संबंध प्राथमिक समीकरण बने रहे मगर उन्हें एक व्यवस्थित राजनीतिक वातावरण को ध्यान में रखकर आगे बढ़ाया जाता था। शक्ति को वैधता के साथ संतुलित करना आवश्यक था। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में होने वाली सौदेबाजी में ताकत स्वयं वैधता का स्रोत बन जाती है और फिर बेलगाम हो जाती है। इस नई सौदेबाजी वाली व्यवस्था में द्विपक्षीय लेनदेन को प्राथमिकता दी जाती है जहां प्रभाव प्रत्यक्ष होता है और परिणाम तत्काल दिखने लगते हैं। पारस्परिकता पर जोर दिया जाता है और रियायतें सशर्त और अस्थायी होती हैं। बहुपक्षीय मंचों में परिणाम अव्यवस्थित हो सकते हैं, लाभ सामाजिक हो सकते हैं और दीर्घकालिक रूप से अधिक व्यापक हो सकते हैं।

भले ही बहुपक्षीय मंच बने रहें और राष्ट्र जलवायु परिवर्तन या साइबर सुरक्षा जैसे वैश्विक मुद्दों पर बातचीत करने के लिए एकत्रित होते रहें मगर परिस्थितियां अब भिन्न हैं। ये मंच अब सहयोगात्मक नतीजे हासिल करने वाले स्थान नहीं रह गए हैं। इसके बजाय वे भू-राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा के मंच बन गए हैं। सौदेबाजी पर आधारित वैश्विक व्यवस्था की एक और विशेषता अंतर-राज्यीय संबंधों के संचालन में चपलता और रफ्तार पर दिया जाने वाला जोर है। किसी अंतरराष्ट्रीय घटना पर त्वरित प्रतिक्रिया, सोच-समझकर और सावधानीपूर्वक की गई प्रतिक्रिया से अधिक अहम मानी जा रही है। इसका कारण यह है कि सोशल मीडिया ने राजनीतिक समयसीमा को संकुचित कर दिया है और व्यावसायिक निर्णयों की तरह ही भू-राजनीतिक दांवपेच में प्रतिस्पर्द्धियों को पछाड़ना आवश्यक हो गया है।

राष्ट्रों की विदेश नीति में सौदेबाजी का चलन अक्सर एक नेता के प्रभाव वाली विदेश नीति से जुड़ा होता है जिसकी प्राथमिकता घरेलू राजनीतिक शक्ति होती है। यद्यपि, घरेलू राजनीति हमेशा विदेश नीति को प्रभावित करेगी मगर इस सौदेबाजी के अंतर्गत विदेश नीति अक्सर घरेलू राजनीति का एक साधन बन जाती है। इस प्रकार, राष्ट्रीय हित से सरोकार रखे बिना अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नेता की एक असाधारण छवि बनाना विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य बन सकता है। यह डॉनल्ड ट्रंप के अमेरिका में सबसे अधिक दिखाई दे रहा है मगर यह केवल वहीं तक सीमित नहीं है। वैश्विक शासन के मूल में एक गहरा विरोधाभास निहित है। हम एक ऐसे युग में जी रहे हैं जब वैश्विक आयाम वाले अंतरराष्ट्रीय मुद्दों का महत्त्व काफी बढ़ गया है। हम जलवायु परिवर्तन जैसी वैश्विक चुनौती का सामना कर रहे हैं। हम कोविड-19 महामारी के कारण हुई मानवीय क्षति का गवाह रहे हैं जो किसी एक राष्ट्र तक सिमट कर नहीं रही।

इसी प्रकार साइबर सुरक्षा भी एक वैश्विक चुनौती है और केवल अंतरराष्ट्रीय सहयोग ही आर्टिफिशल इंटेलिजेंस (एआई) पर लगाम लगा सकता है। एआई हमारे जीवन को पूरी तरह से बदल सकती है। ये वास्तव में वैश्विक चुनौतियां हैं जिनका समाधान केवल वैश्विक, सहयोगात्मक उपायों से ही संभव है। ठीक ऐसे समय में जब इन उपायों को लागू करने के लिए सशक्त अंतरराष्ट्रीय संस्थानों और प्रभावी बहुपक्षीय प्रक्रियाओं की सबसे अधिक आवश्यकता है, दुनिया विपरीत दिशा में आगे बढ़ रही है। आखिर, इस विरोधाभास का कारण क्या है? क्या राजनेताओं और नीति निर्माताओं के बीच समझ की कमी

है या कुछ गहरी संरचनात्मक शक्तियां काम कर रही हैं जो सामूहिक और समन्वित कार्रवाई की अनिवार्यता को तर्कसंगत स्तर पर स्वीकार करने से इनकार कर रही हैं?

व्यापक स्तर पर अधिकांश राजनीतिक नेता ऐसी नीतिगत कार्रवाइयों के तर्क को समझते हैं मगर सूक्ष्म स्तर पर ऐसे प्रोत्साहन मौजूद हैं जो उन्हें विपरीत दिशा में खींचते हैं। जलवायु परिवर्तन, महामारी की तैयारी और साइबर हमले झेलने एवं इनसे निपटने की क्षमता घरेलू राजनीतिक चक्र की तुलना में कहीं अधिक दीर्घकालिक स्तर पर काम करते हैं। जो नेता दीर्घकालिक वैश्विक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बेमतलब की राजनीति से दूरी बरतने लगते हैं उन्हें अक्सर मतदाताओं के कोप का सामना करना पड़ता है।

वैश्विक चुनौतियों से निपटने के लिए समान रूप से बोझ साझा करने पर आधारित सामूहिक कार्रवाई की प्रतिस्पर्द्धा होनी चाहिए थी मगर इसके बजाय यह बोझ एक-दूसरे पर डाला जा रहा है जो एक आत्मघाती सौदेबाजी है। क्या ऐसी कोई संभावना है कि मझोली शक्तियों का कोई ढीला-ढाला गठबंधन वास्तव में वैश्विक साझा संसाधनों की चुनौती की ओर ध्यान आकर्षित कर सके और एकजुटता और वैश्विक जिम्मेदारी की नई भावना के साथ कार्रवाई का नेतृत्व कर सके?

वैश्विक मंचों पर उनकी अधिक सक्रियता है और अव्यवस्था से भरी दुनिया में उन्हें बहुत कुछ खोना पड़ सकता है। आम तौर पर दुनिया के विकासशील एवं आर्थिक रूप से कमजोर देशों (ग्लोबल साउथ) की बड़ी उभरती अर्थव्यवस्थाओं को मझोली ताकतों के रूप में देखा जाता है। इनमें भारत, इंडोनेशिया, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका, मिस्र और अंततः ईरान शामिल हो सकते हैं। हालांकि, अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी देशों के गठबंधन के बिखराव के साथ फ्रांस और जर्मनी जैसी यूरोपीय शक्तियां और अमेरिका में कनाडा और मेक्सिको जैसी शक्तियां भी रणनीतिक स्वायत्तता की ओर अग्रसर हैं। जापान और दक्षिण कोरिया भी खुद को अलग-थलग महसूस कर रहे हैं। यह संभावित रूप से देशों का एक ऐसा समूह है जो मिलकर एक ऐसा अंतरराष्ट्रीय आंदोलन खड़ा कर सकता है जो अंतरराष्ट्रीय एकजुटता की भावना को बढ़ावा दे सकता है और साझा कार्रवाई का नेतृत्व कर सकता है।

हमें यह देखना होगा कि क्या किसी बहुराष्ट्रीय या द्विपक्षीय सैन्य गठबंधन का हिस्सा होना (भले ही उसका स्वरूप कमजोर हो गया हो) उनकी कार्रवाई की स्वतंत्रता को सीमित करेगा। जब तक कुछ प्रभावशाली शक्तियां आगे बढ़कर कमान नहीं संभालतीं तब तक लेन-देनवाद की मौजूदा पकड़ के हटने और अधिक सकारात्मक मानदंडों के आने की उम्मीद नहीं की जा सकती। मगर एक विश्वसनीय मध्यम शक्ति को ही ऐसे गठबंधन का गठन करना होगा। भारत वह ताकत बन सकता है मगर उसे अपनी विदेश नीति के सौदेबाजी आधारित झुकाव से दूर हटना होगा।

एक ऐतिहासिक समानता शीत युद्ध के दौरान गुटनिरपेक्ष आंदोलन में देखी जा सकती है जब नव स्वतंत्र और उपनिवेशवाद से मुक्त हुए देशों के एक समूह ने ध्रुवीकृत भू-राजनीतिक परिदृश्य में अपने हितों की रक्षा और उनके प्रचार के लिए एक स्वतंत्र स्थान बनाने का प्रयास किया। वह स्थिति हमारे वर्तमान अव्यवस्थित और खतरनाक विश्व से बहुत अलग नहीं थी। किसी भी स्थिति में इतनी सघन रूप से परस्पर जुड़ी और एक-दूसरे पर निर्भर दुनिया में सौदेबाजी एक खतरनाक मोड़ की ओर ले जाती है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 06-06-26

आर्थिक चिंता का समय

संपादकीय

विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक और सरकार द्वारा शुक्रवार को एक साथ किए गए उपाय सराहनीय हैं। इन उपायों से तीन लाभ होंगे- विदेशी निवेश का पलायन थमेगा, स्थानीय ऋण बाजार को मजबूती मिलेगी और रुपये की स्थिति सुधरेगी। वैश्विक अनिश्चितता के इस समय में रिजर्व बैंक को ऐसे तमाम उपाय करने ही चाहिए, जिनसे अर्थव्यवस्था को मजबूती मिले। ध्यान देने की बात है, अभी भी भारतीय अर्थव्यवस्था ने विदेशी निवेश के लिए अपने रास्तों को उस तरह से नहीं खोला है, जैसे दक्षिण कोरिया और ताइवान जैसे देश कर रहे हैं। तथ्य है, इन छोटे देशों के शेयर बाजार का मूल्य भारतीय शेयर बाजार से ज्यादा हो गया है। भारतीय शेयर बाजार का मूल्य दो साल पहले दुनिया में तीसरे स्थान पर पहुंचने लगा था, मगर अब गिरकर सातवें स्थान पर आ गया है। सबसे मूल्यवान अमेरिकी शेयर बाजार 80 ट्रिलियन डॉलर के करीब है, तो 16 ट्रिलियन डॉलर के साथ चीनी शेयर बाजार दूसरे स्थान पर है, जबकि भारतीय शेयर बाजार का मूल्य पांच ट्रिलियन से भी नीचे आ गया है। ऐसे में, शेयर बाजार में निवेश की गिरावट को रोकना बहुत जरूरी हो गया है।

विदेशी निवेशकों की ताकत को बढ़ाया गया है। उन्हें ज्यादा कर सुविधा के साथ ही शेयर बाजार में अधिक पहुंच की सुविधा दी गई है। सॉवरेन बॉन्ड में निवेश पर कर छूट, विदेशी निवेशकों के लिए निवेश प्रतिबंधों में ढील और विदेशियों के लिए शेयर निवेश सीमा में वृद्धि से निश्चित ही भारतीय निवेश में बढ़ोतरी होगी। इन उपायों से विदेशी निवेशकों का फायदा बढ़ेगा,पर यह जोखिम भारत को उठाना ही पड़ेगा। हमें व्यापकता में सोचना होगा कि हम अपने देश में निवेश बढ़ाने के लिए क्या ठोस उपाय कर रहे हैं? क्या हम भारत में व्यापार को और आसान बना सकते हैं? क्या हम अपनी पूंजी को विदेश जाने से रोक सकते हैं? वास्तव में, देश के विकास को तेज करने के लिए ऐसा करना ही होगा। अच्छी बात है, शुक्रवार को रुपये का मूल्य अमेरिकी डॉलर के मुकाबले पचास पैसे बढ़ा है। किसी भी स्थिति में कोशिश होनी चाहिए कि डॉलर के मुकाबले रुपया स्थिर रहे। आज एक बड़ी आशंका है कि एक डॉलर की कीमत 100 रुपये से ज्यादा न हो जाए। पेट्रोल की कीमत तो पहले ही 100 रुपये के पार चली गई है।

अर्थव्यवस्था में गिरावट को रोकना प्राथमिकता बने। वैश्विक गिरावट हमारे लिए बहाना न बने, तो ही अच्छा है। भारत दुनिया में सबसे ज्यादा आबादी वाला देश है, उसकी मौद्रिक नीतियां पिछलग्गू न बनें, यह सुनिश्चित करना होगा। निस्संदेह, घोषित उपाय दीर्घकालिक विकास को बल देने के साथ ही विदेशी मुद्रा भंडार को बढ़ाएंगे। रिजर्व बैंक का एक और उपाय खास ध्यान खींच रहा है। अब निर्यातकों को अपनी विदेशी मुद्रा आय को जल्द से जल्द भारत लाना होगा। भारत के हिस्से की विदेशी मुद्रा और कमाई भारत में ही रहे, इसके उपाय बढ़ाने की जरूरत है। रिजर्व बैंक ने उचित ही बैंक दर या रेपो रेट में कोई बदलाव नहीं किया है। जीडीपी विकास दर 6.9 प्रतिशत से घटाकर 6.6 प्रतिशत कर दी गई है, तो खुदरा महंगाई दर अनुमान को 4.6 प्रतिशत से बढ़ाकर 5.1 प्रतिशत कर दिया गया है। भारत अभी भी संभल या संभाल सकता है। विकास की रफ्तार में आ रही अड़चनों को दूर करना होगा। यह खुशखबरी है कि स्वर्ण के भाव में एक प्रतिशत और चांदी के भाव में दो प्रतिशत की कमी देखी गई है। चुनौतियों के बीच जहां भी सुधार के सुखद संकेत दिख रहे हैं, उनसे प्रेरित होने की जरूरत है।